

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन की मौलिक अवधारणाएँ

सारांश

पश्चिमी देशों में मनुष्य के आर्थिक विकास का विचार शुरू होने से बहुत पहले ही भारत के आर्थिक चिंतक सक्रियता से कार्यरत थे तथा अपने ज्ञान से विश्व को मार्ग दिखा रहे थे। प्राचीन भारत को सम्पन्नता के कारण ही सोने की चिड़ियाँ जैसी उपाधि विश्व ने दे रखी थी। सिन्धु घटी सभ्यता से ही भारतीय आर्थिक जीवन की समृद्धता का ज्ञान मिलता है उस समय देश की आर्थिक उन्नति चरम सीमा पर थी। भारतीय चिंतक व्यापक, समग्र और संतुलित था। भारतीय आर्थिक चिंतन में आवश्यकताओं को कम रखने का मार्गदर्शन भी दिया गया है। उत्पादन श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण के नियमों पर आधारित था। भारतीय आर्थिक चिंतन में कीमतों के निर्धारण एवं विनिमय द्वारा उपभोक्ता संरक्षण को महत्त्व प्रदान किया गया है। मनु, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदि ने कर व्यवस्था के सकारात्मक एवं नकारात्मक नियमों का प्रतिपादन किया है। आर्थिक क्रियाओं का आधार स्वकल्याण न होकर सामाजिक एवं विश्व कल्याण था।

मुख्य शब्द : वैदिक, पुरुषार्थ, वाङ्मय, उपभोग, विशिष्टीकरण, जीवन-निर्वाह, उत्पादन, विनिमय, राजस्व, दर्शन

प्रस्तावना

पाश्चात्य आर्थिक चिंतकों का सामान्य मत यह रहा है कि भारत में कोई व्यवस्थित अर्थशास्त्रीय चिंतन पम्परा नहीं रही है। सम्भवतः ये विद्वान प्राचीन भारतीय साहित्य विशेषकर वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ रहे हैं। पश्चिमी विद्वान कौटिलीय अर्थशास्त्र को ही भारतीय अर्थ चिंतन की एक मात्र पुस्तक मानते रहे हैं जबकि कौटिलीय का अर्थशास्त्र पुरातन भारतीय अर्थ चिंतन की अंतिम पुस्तक है। पाश्चात्य आर्थिक चिंतन केवल अर्थ एवं काम तक ही सीमित है। भारतीय चिंतक ने इसे संकुचित एवं आधा-अधुरा दृष्टिकोण मानते हुए धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थों की सहायता से अर्थशास्त्र को अधिक व्यापक, समग्र और संतुलित आधार प्रधान किया है। वैसे तो भारतीय चिंतन बहुआयामी है। शब्द एक ही है पर उस शब्द के कई अर्थ हैं फिर भी वर्तमान में प्रचलित तकनीकी शब्दावली का प्रयोग करते हुये प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र सामग्री को उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण, सार्वजनिक वित्त अथवा राजस्व भागों में विभाजित किया जा सकता है।

अध्ययन का उद्देश्य

यह शोध पत्र प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन की मौलिक अवधारणाएँ को स्पष्ट करने के साथ प्राचीन आर्थिक चिंतन के स्रोतों का एवं प्राचीन आर्थिक चिंतन के वर्तमान उपयोग में सहायक होगा एवं गौरवशाली प्राचीन आर्थिक चिंतन से अवगत कराता है।

उपभोग

भारतीय वाङ्मय में शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का मार्ग प्रस्तुत है ही, साथ ही उन आवश्यकताओं को कम रखने का मार्गदर्शन भी दिया गया है। गीता में कहा गया है कि पृथ्वी पर जितने धन, जौ, स्वर्ण, पशु, स्त्रियाँ हैं वे सब एक मनुष्य की कामनाओं को पूरा करने हेतु भी पर्याप्त नहीं हैं। मनुस्मृति, कठोपनिषद्, गरुड़ पुराण, विशिष्ट महाभारत, आदि पर्व, अनुशासन पर्व, भागवत पुराण, अग्नि पुराण, आदि सभी शास्त्रों में असीमित एवं अतृप्त आवश्यकताओं को कम कर धर्मानुसार साधनों के उपभोग से परम सुख प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है। ऋग्वेद में यथा शक्ति परिश्रम द्वारा अपनी आजीविका उत्पन्न कर आवश्यकताओं को संतुष्ट करने तथा समाज से दरिद्रता व अभाव को दूर करने का निर्देश है। वेदों में अन्न, वस्त्र, मकान, चिकित्सा तथा शिक्षा की प्राथमिक आवश्यकताओं का विस्तार से वर्णन है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उपभोग पदार्थों का उपयोग इच्छानुसार न होकर आवश्यकताओं के अनुसार अर्थात् न्यूनतम करना ही न्यायोचित माना गया



हरि राम मीना

सहायक प्रोफेसर,
अर्थशास्त्र विभाग,
राजकीय कला महाविद्यालय,
दौसा, राजस्थान

है। इसके लिए उपभोग के नियमों की व्याख्या के साथ संयमित उपभोग, सह-उपयोग, तथा समान उपयोग की अवधारणाओं पर जोर दिया गया है। इसके लिए परिश्रम-पूर्वक पर्याप्त साधनों का अर्जन का समर्थन किन्तु केवल स्वयं या स्व-कुटुंब के लिए उसके उपभोग का विरोध किया गया है तथा सौ हाथों से अर्जन एवं हजारों हाथों से बांटने का निर्देश दिया गया है। भारतीय दर्शन में पाश्चात्य साहित्य के लाभ उद्देश्य के स्थान पर सेवा की भावना तथा उपभोगवाद के स्थान पर संयमित उपभोग को स्थान दिया गया है। पाश्चात्य दर्शन में जहाँ शोषण को प्रमुखता है। वहीं भारतीय दर्शन में अन्त्योदय के विचार को अपनाया गया है। पाश्चात्य दर्शन के कृत्रिम दुर्लभता के स्थान पर प्राचीन भारतीय वाङ्मय में विपुल उत्पादन की परिकल्पना की गई है। जहाँ पाश्चात्य दर्शन में मजदुरी रोजगार पर आधारित सिद्धांत हैं। वहीं भारतीय दर्शन में स्वरोजगार केंद्रित आर्थिक अवधारणाएं शामिल हैं। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन एवं भारतीय दर्शन में मूलभूत अंतर पाया जाता है।

उत्पादन

प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित वर्ण-विभाजन श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण के नियमों पर आधारित था। सम्पूर्ण समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र वर्गों में बांटकर उत्पादन कार्य को किया गया है। यद्यपि सभी वर्ग जीवन-निर्वाह के लिए कृषि कर्म कर सकते थे। कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य, उद्योग-धंधे आदि को सम्पन्नता, खुशहाली, शक्ति एवं जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक माना गया है। प्राचीन साहित्य में विपुल उत्पादन करने के लिए उत्पादन साधनों का संयोजन एवं प्रयोगों का वर्णन मिलता है। आजीविका का मुख्य साधन कृषि होने के कारण भूमि का प्रकार, भूमि का प्रयोग, उत्पादन तकनीकी आदि के प्रयोगों के बारे में विस्तार से जानकारी मिलती है। अच्छे बीज, बीजों का संग्रहण, बोने की विधि आदि के साथ कृषि के गुण दोष, उपज के माप व तोल के उपाय तथा पशु संवर्धन के उपायों का अथाह भंडार मिलता है। उच्च तकनीकी का उदाहरण इससे बढ़कर क्या होगा जब हमें वैदिक वाङ्मय में 6,8,10,12, तथा 24 बैलो द्वारा कृषि करने का वर्णन प्राप्त होता है। कृषि की मुख्य चार वैज्ञानिक क्रियाओं कृषन्त, वपन्त, लुनन्त, और मृन्त का एक साथ उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। विभिन्न खाद्यानों का उत्पादन, उचित सिंचाई व्यवस्था, भूमि प्रबंध (भूमि स्वामित्व), उत्पादकता के आधार पर भूमि का वर्गीकरण आदि का वर्णन मिलता है। कृषि को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए तथा प्रोत्साहन देने के लिए राजा स्वयं खेत जोतता था। महाभारत, कौटिल्य व शुक्र द्वारा किसानों को राज्य द्वारा नकद, बीज तथा साधनों के लिए राज्य ऋण, देने का विधान किया गया है। परस्पर सहयोग से पूंजी लगाकर साझेदारी प्रथा द्वारा भी उत्पादन एवं व्यवसाय करने का वर्णन मिलता है। कृषि तथा पशुपालन के अतिरिक्त वस्त्र उद्योग, स्वर्णकारिता, शिल्पकला, खनिज, काष्ठ तथा अन्य उद्योग व्यवसायों का मनुष्य बुद्धि और क्षमता भेद के कारण अनुसरण करते थे। व्यवसाय और उद्योगों के लिए कच्चा माल, वस्तु निर्माण की

जानकारी, उद्योगकर्मी, व्यापार के लिए प्रचुर उत्पादन तथा उन्हें उचित बिक्री केन्द्रों तक पहुँचाने की व्यवस्था और परिवहन की सुविधाओं का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है। भारतीय दर्शन उत्पादन में संघर्ष के स्थान पर परस्पर सहयोग को प्रमुखता देता है। सर्वोत्तम के स्थान पर समन्वय एवं सहयोग को आधार माना गया है। प्रकृति के शोषण के स्थान पर प्रकृति के दोहन की आवश्यकता को प्रतिपादित किया गया है। भारतीय दर्शन में आर्थिक मानव के स्थान पर समग्र मानव की कल्पना की गई है जो अर्थ, काम, के अतिरिक्त धर्म और मोक्ष से भी ओत-प्रोत रहता है।

विनिमय

वैदिक साहित्य में वस्तु विनिमय के साथ मौद्रिक विनिमय का भी वर्णन है। वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में वस्तु की आवश्यकता तथा वस्तु की उपयोगिता के साथ उत्पादन लागत भी प्रमुख आधार थे। देश तथा काल के अनुसार मूल्य निर्धारण होता था। पाणिनि ने बाजार का अर्थ बताते हुए वस्तुओं के विनिमय के लिए क्रेता तथा विक्रेता दोनों पक्षों को आवश्यक माना है। मूल्य निर्धारण के लिए कई सिद्धांत प्रचलित थे जिनमें परम्पराएं, मोलभाव की शक्ति, दुकानदारों की आपसी प्रतियोगिता, वस्तुओं की शुद्धता के साथ कौटिल्य एवं मनु ने राज्य द्वारा कीमतों के निर्धारण एवं विनिमय द्वारा उपभोक्ता संरक्षण को महत्त्व प्रदान किया गया है। वस्तुओं के आवागमन, क्रय-विक्रय, लाभ-हानि, व्यापारियों की सुरक्षा, आदि के दायित्व राजा को सौंपा गया था।

वितरण

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में समाज में समुचित एवं न्यायोचित (शोषण रहित) वितरण की दृष्टि से दो प्रकार की व्यवस्थाएँ निर्मित की गई थी। एक नैतिक व्यवस्था जहाँ व्यक्ति की नैतिक, धार्मिक एवं मानवीय भावनाओं को जगाकर अपनी आवश्यकताओं से अधिक सम्पत्ति को समाज हित के लिए समर्पित कर देने की प्रेरणा का समावेश है। यज्ञ तथा दान द्वारा साधन सम्पदा का न्यायपूर्ण वितरण होता रहता था। भूमि पर राज्य का स्वामित्व मानते हुए लगान लेने का अधिकारी राजा को माना गया है। मनु, शुक्र, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद आदि कानूनविदों ने श्रमिकों के वेतन, छुट्टियाँ, बोनस, भविष्य निधि, पेंशन, पदोन्नति, आदि के बारे में स्पष्ट नियमों का उल्लेख किया गया है। कार्य, अवधि, वेतन के अनुरूप श्रमिकों की श्रेणियाँ होती थी तथा उन्हीं के आधार पर उन्हें वेतन का भुगतान करने के नियमों का प्रावधान किया गया था।

सार्वजनिक वित्त अथवा राजस्व

प्राचीन भारतीय चिंतकों ने राजकीय आय को करो तथा करेत्तर आय में बांटते हुए करारोपण के नियमों, करों के क्षेत्र, करों के प्रभाव आदि का वर्णन किया है। मनु, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदि ने कर व्यवस्था के सकारात्मक एवं नकारात्मक नियमों का प्रतिपादन किया है। उचित करों की मात्रा के अलावा दंड, जुर्माना, शुल्क, आदि के नियमों का भी विस्तार से वर्णन है। सार्वजनिक व्यय के सिद्धांत तथा अन्य नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है। कौटिल्य नीति, शुक्र नीति में करों को विस्तार

पूर्वक बताया गया है तथा एक सीमा से अधिक राज्य को कर नहीं लगाने चाहिए तथा करों का उपयोग राज्य को प्रजा कल्याण में खर्च करना चाहिए आदि लोक कल्याणकारी नीतियाँ प्रचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य में अर्थशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है। सहकारिता की भावना पर आधारित होकर आर्थिक क्रियाएं संचालित की जाती थी। आर्थिक क्रियाओं का आधार स्वकल्याण न होकर सामाजिक एवं विश्व कल्याण था। साहित्य के विविध रूपों का जिस प्रकार संवर्धन भारत में हुआ है। वैसा संसार के किसी भी देश में संभव नहीं हो सका है। भारतीय प्राचीन साहित्य का गहराई से अध्ययन किया जाये तो निश्चित रूप से भारत के गौरवशाली अतीत की जानकारी मिलेगी। वेदों का एक-एक अक्षर अथाह रहस्यों से भरा पड़ा हुआ है इसलिए हर सूत्र पर पुरे के पुरे भाष्य लिखे जा चुके हैं। वैदिक साहित्य में समाज विज्ञान के क्षेत्र में राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, लोकप्रशासन, समाजशास्त्र, भूगोल तथा कला के क्षेत्र में शिक्षा, संस्कृति, संगीत, एवं विधि आदि का जगह-जगह उल्लेख मिलता है।

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानो तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थात् यह मेरा है, यह पराया है, ऐसा विचार तुच्छ या निम्न कोटि के लोग करते हैं। उच्च चरित्र वाले व्यक्ति समस्त संसार को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं। अतः

अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान है। प्राचीन साहित्य में सभी सामाजिक विज्ञानों को एक दुसरे से पृथक नहीं मानकर उनकी पारस्परिक निर्भरता को स्वीकार किया गया है। अर्थशास्त्र यदि सम्पत्ति कि व्याख्या करता है तो धर्मशास्त्र उस सम्पत्ति का सदुपयोग सिखाता है

संदर्भ ग्रंथ

1. तिलक, गंगाधर, गीता रहस्य पृ.148
2. भागवत पुराण 7/13/23 व 7/18/5
3. ऋग्वेद 10/155/1
4. ऋग्वेद 10/44/10 अथर्ववेद 2/16/4 यजुर्वेद 2/34
5. भागवत पुराण 7/14/18
6. महा.शांति 8/56-58
7. ऋग्वेद 10/117/6 विदुर नीति, पृ.26
8. अथर्ववेद 3/30/1-7
9. अथर्ववेद 3/24/5
10. त्रिपाठी, राम नरेश, प्राचीन आर्थिक विचार, पृ.335
11. मनुस्मृति 1/90
12. बृहत्पाराशर 5/158
13. जातक 1/111,195,2/222
14. पाणिनि 2/3/57
15. नारद पुराण 6/1
16. गोयल, रमा, भारतीय परिप्रेक्ष्य में एकात्म मानववादी अर्थनीति, पृ.80
17. उपाध्याय, शिवनारायण, वेदों की वैज्ञानिक अवधारणा, पृ. 35